चेतना की मनोभूमि और उसकी साहित्यिक उपादेयता का अनुशीलन

आनंद सिंह

शोधार्थी, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय वडोदरा, गुजरात

चेतना (Conciaisones) एक ऐसी मानसिक शक्ति होती है जिसकी सहायता से कुछ प्राणधारी स्वयं के तथा अपने आस-पास प्रकीर्णित विविध प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित घटकों, परिवर्तनों एवं क्रियाकलापों आदि की बोधगम्यता अथवा उन्हें समझने और उनका विवेचन-विश्लेषण करने की सामर्थ्य व योग्यता धारण करते है। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार चेतना एक ऐसी अनुभूति हैं जो मस्तिष्क में पहुंचने वाले विभिन्न प्रकार के अभिगामी आवेगो से प्रादुर्भूत होती है। इस चेतना के प्रादुर्भावक आवेगों का अर्थ तत्क्षण या बाद में भी समझाया निर्धारित किया जा सकता है। प्रत्येक सजीव प्राणी अपने समग्र जीवनकाल में विविध प्रकार के क्रिया-कलाप अवश्य करते है। इन क्रिया-कलापों में शरीर के प्रत्येक अंगों की अपनी-अपनी भूमिकाएँ और कार्यप्रणालियाँ होती हैं। दूसरे जीवधारियों की समतुल्यता में मनुष्य एक विशेष प्रकार कोटि का प्राणी होता है क्योंकि धरती पर पाए जाने वाले सभी सचरों में से यही एकमात्र प्रजाति का जीव है, जिसके पास सोचने -विचारने की क्षमता के अतिरिक्त स्वयं के भावानुभावों-विचारों की अभिव्यक्ति योग्य प्रवृत्ति प्रकृति प्रदत्त भाषिक सामर्थ्य भी है। भाजिक और वैचारिक अवदानों के अतिरिक्त मनुष्य के पास प्रकृति प्रदत्त जो एक और प्रवृत्ति है वह है चेतना। यह चेतना मनुष्य को केवल जीवित ही नहीं रखती है बल्कि उसे मनुष्य होने का पर्याप्त प्रमाण भी उपलब्ध कराती है, साथ ही सामान्य जीवधारियों से उसकी पृथकता भी सुनिश्चित करती है। चेतना के द्वारा ही मनुष्य अपने भौतिक वातावरण में विद्यमान विभिन्न प्राकृतिक तथा मानव-निर्मित घटकों का सम्मक परिज्ञान प्राप्त करता है। चेतना दरअसल मनुष्य के मस्तिष्क में वर्तमान एक ऐसा अभौतिक एवं अदृश्य अवयव है जो शरीर के विविध अंगो-उपांगो को उनके लिए निर्धारित कार्यों को व्यवस्थित ढंग से करने के लिए प्रेरित करती है या फिर उनमें समुचित कार्य करने की समझ पैदा करती है। चेतना के द्वारा जब शरीर के सभी अंगों-उपांगों को जागृत अथवा निर्देशित कर दिया जाता है तब ये अंग-प्रत्यंग सर्वोत्तम ढंग से अपना-अपना कार्य करके मनुष्य को बुद्धिमान तथा ज्ञानवान बना देते हैं। इस तरह से चेतना कुछ और नही बल्कि मनुष्य के मानसिक और वैचारिक विकास पैमाना अर्थात मानदंड है। जिस मनुष्य का वैचारिक और मानसिक विकास शून्य होगा, उसकी चेतना भी शून्य होगी, तथा जिसका मस्तिष्क सामान्य अथवा दैनंदिन है मनुष्यों की भाँति कार्य करेगा उसकी चेतना भी सामान्य किस्म की होगी। इसी तरह विशिष्ट रचनाधर्मिता से नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा वाले साहित्यिक मनुष्यों ने की चेतना अपना उत्कृष्ट स्वरूपों वाली होगी, क्योंकि कल्पना शक्ति और यथार्थ को समर्पित करके लोककल्याण में सहायक सर्जनाएँ रचनाएँ करना साहित्य-सर्जकों की चेतना का उद्देश्य होता है। विशिष्ट उद्देश्यो और प्रकृतियों वाली चेतना होने के कारण साहित्यिक चेतना अर्थात साहित्य सृजन में व्यवहृत होने वाली मानसिक एवं वैचारिक सामर्थ्य स्वत: ही विशिष्ट किस्म की हो जाती है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के उपरांत स्वत: ही स्पष्ट हो या है कि जाता है कि मनुष्य के संदर्भ में चेतना की उच्च-निम्न, विकसित-अविकसित प्रकृति में कुछ और नही बल्कि उसके मानसिक- वैचारिक विकास या दरिद्रता की घोतक मात्र है। इसकी निवर्तमानता में मनुष्य का शरीर और उसका मस्तिष्क जो भी कार्य करेगा वह अब्यय स्थित, अनियंत्रित तथा अकिंचन किस्म का होगा। व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक संदर्भों में चेतना के द्वारा कराया गया ज्ञान विचार शक्ति अथवा बुद्धि कहलाता है। इसी बुद्धि या विचार शक्ति के कारण मनुष्य एक सामान्य सजीव से इतर मनष्य होता है।

चेतना का पर्याय अथवा समानार्थी शब्द जागृतता है। दोनों की अर्थवत्ता में कोई आधारिक विभेद नहीं पाया जाता है। दार्शनिक संदर्भों से एवं सामान्य व्यवहारों दोनों में चेतने और जागने को सामान्य भावार्थों मे व्यवहृत किया जाता है। चेतना अथवा जागृतता मनुष्य की सजीवता के प्रमाण तो है ही, साथ ही इनकी अनुपस्थिति में मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक पहल संकीर्ण, सुखा, कमजोर और दरिद्र रह जाता है। मनुष्य के चहुमुखी विकास के लिए उसके जीवन में विविध प्रकार की क्रियाशीलताओ का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है तथा ये गतिशीलताएँ चेतना की अनुपस्थिति में संपन्न नही हो सकती है। वस्तुत: चेतना और जागृतता और कुछ नही बल्कि प्रज्ञा या वृद्धि ही है जिसका प्रादुर्भाव मस्तिष्क के भीतर संचरित असंख्य मानसिक संवेगों से होता है। यहँ एक प्राकृतिक सिद्धांत है कि जिस मनुष्य के मस्तिष्क में संवेगों का संचरण जितनी अधिक तीव्रता से होगा उसकी प्रज्ञा या चेतना उतनी ही अधिक तीव्र एवं उन्नत किस्म की होगी। मानसिक रूप से विक्षिप्त किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में इन्ही संवेगों का संचार नही होता था या फिर अवरुद्ध हो जाता है इसलिए उनकी चेतना भी निष्क्रिय अथवा समाप्त हो जाती है। इस चेतना या जागृतता की निवर्तमानता में संदर्भित व्यक्ति का शरीर समर्पित कार्य नहीं कर पाता है तथा उसका मस्तिष्क भी शरीर के विभिन्न अंगों-उपांगों को यथोचित निर्देश नहीं दे पाता है, परिणाम स्वरूप उस व्यक्ति का प्रत्येक तरह का कायिक, मानसिक और भौतिक विकास अवरुद्ध हो जाता है और वह अपनी मनुष्यता को विनष्ट कर दूसरे जीवधारियों की समकक्षता मे आ जाता है। यद्यपि चेतना केवल मनुष्य की ही आधिकारिक अथवा जातीय सम्पत्ति नही होती है अपितु यह अत्यधिक रूप से सभी सजीवों में वर्तमान होती है। गैर-मानवीय सजीवों को चेतनता

उनके जातीय मस्तिष्क के संवेगीय संचरण के अनुरूप ही होती है जिसे केवल वे और उनके जातीय समुदाय ही समझ या अनुभूत कर सकता है। यदि मनुष्येतर प्राणियों में चेतना का अंतर्वेशन नहीं होता तो उनकी क्रियाशीलता अपवा गत्यात्मकता निरंतर कैसे रह पाती? लेकिन दूसरे प्राणियों से इतर मानवीय चेतना व्यक्तिगत हित-साधन के अतिरिक्त लोककल्याणकारी प्रकृति की भी होती है। चेतनाशील मनुष्य अपने विचारों और कार्य-व्यवहारों के द्वारा जहाँ स्वयं की आवश्यकताओ महत्वाकांक्षाओं आदि की पूर्ति करता है वही समाज, राष्ट्र या फिर जीवमात्र के हित साधन का भी विचार रखता है। चेतना ही वह घटक है जो मनुष्य को प्रत्येक क्षण कुछ नया सीखने, नया करने, आगे बढ़ने तथा भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहने हेतु प्रेरित करती रहती है। विषम परिस्थितियों में यही हमारा मार्गदर्शन करती है, इसी के द्वारा प्रादुर्भूत होकर भाव हमें विषय के अनुरूप हँसने, रोने, गाने अथवा भाव-विह्वल होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह से स्पष्ट है कि मनुष्य की सम्पूर्ण मनुष्यगत अस्मिता उसके भीतर वर्तमान चेतना अथवा जागृतता पर ही आश्रित होती है। मानवीय सभ्यताओं के विकासानुक्रम में चेतना की प्रकृति देशकाल और वातावरण के अनुरूप निर्धारित या परिवर्तित होती रही है। लेकिन वर्तमान संदर्भों में जबकि मानव सभ्यता अपने विकास के अंतिम सोपान पर पहुँच गयी है ऐसे में चेतना की प्रकृति बहुत हद तक निर्धारित हो चुकी है।

सर्वज्ञात है कि प्रज्ञा और प्रतिभा के संदर्भ में व्यापक और लोककल्याण का उद्देश्य रखने वाले साहित्य-सर्जक दैनंदिन मनुष्यों की समतुल्यता में बहुत अधिक समृद्धशाली होते हैं। न केवल इनका उद्देश्य अभिव्यापक आयामों वाला होता है अपितु इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक भाव और विचार भी अत्यधिक समुन्नत किस्म के होते हैं। जैसा कि उल्लिखित हो चुका है कि चेतना का संदर्भ प्रज्ञा अथवा बुद्धि से होता है जबकि साहित्य-सृजन के अनुक्रम में स्वानुभूति व्यक्ति तथा अपने देशकाल एवं वातावरण की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों-चित्तवृत्तियो तथा घटना व्यापारों आदि के चित्रण लिए यर्थाथ के साथ-साथ कल्पना का भी सहारा लेता है और यह कल्पना सर्जक की प्रज्ञा से ही संदर्भित होती है। इसलिए रचनाकार स्वानभूतियों की अभिव्यक्ति तथा स्वयं के भावानुभावों तथा विचारों के द्वारा लोकमंगल जैसे व्यापक उद्देश्य को लेकर चलने वाले रचनाकार की उद्देश्यगत सफलता उसकी चेतना की उत्कृष्टता में ही अंतर्निहित होती है। साहित्य-सर्जक की चेतना जितनी अधिक उन्नत किस्म की होगी, उसकी रचनाएँ उतनी ही अधिक कालजयी प्रासंगिकता वाली होंगी। साहित्यकार की उद्देश्यपरक सफलता के लिए चेतना उसे कल्पना शक्ति और अभिव्यक्ति क्षमता ही प्रदान नही करती है अपितु अभिव्यक्ति हेतु विषयवस्तु के चयन की बोध गम्यता भी उपलब्ध कराती है। यदि रचनाकार की चेतना विशिष्ट और विकसित प्रकार की नही होगी तो वह अपनी सर्जनाओ के लिए समर्पित विषयवस्तु का चयन नहीं कर पाएगा या फिर इधर-उधर के विषयों को उठाकर उन्हें अपनी रचनाओ मे व्यवहृत करेगा। जैसा कि कहा जा चुका है कि साहित्य-सर्जक का उद्देश्यगत कार्य व्यापक लोकमंगल से सन्नद्ध होता है इसलिए उसका अपनी रचनाओं के लिए कथावस्तु स्वरूप ऐसे विषयों का अथवा समास्याओं का चयन करना जो उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो-अत्यधिक आवश्यक होता है। रचनाकार ऐसा तभी कर पाता है जब उसकी चेतना अत्यंत उत्कृष्ट हो और उत्कृष्ट चेतना के आधार पर की गयी साहित्य सर्जनाएँ सदैव सार्वकालिक प्रकृति की होती हैं।

वस्तुत: साहित्य-सर्जक की चेतना, उसकी कल्पना शक्ति और उसके द्वारा लोककल्याणकारी विषयों का चयन आदि सभी कुछ परस्पर सम्बद्ध होता हैं। साहित्यकार की विशिष्ट चेतना उसमें स्वत: ही कल्पनाशक्ति को समाहार कर देती है और इस कल्पनाशीलता के द्वारा वह अपनी-अपनी रचनाओं के लिए यथावश्यक विषयवस्तु का चयन कर लेता है। लेकिन विषयवस्तु के चयन से पूर्व सर्जक को अपने देशकाल एवं वातावरण की संगतियों-विसंगतियों का यथेष्ट अभिज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक होता है। क्योंकि जब तक वह विसंगतियों-विद्रूपताओ, अच्छाइयों, आवश्यकताओ, प्रवृत्तियों आदि की समुचित पहचान नही कर पाएगा तब तक इन्हें अपनी सर्जनाओं की विषयवस्तु में कैसे सम्मिलित कर पाएगा? संगतियों और विसंगतियों की यह पहचान भी विलक्षण तरह की चेतना ही आश्रित होती है। सर्जक की चेतना जितनी अधिक उत्कृष्ट होगी उतनी ही अधिक तीव्रता, यथार्थता तथा स्वाभाविकता के साथ वह सही-गलत की समझ विकसित करते हुए अपनी रचनाओं की विषयवस्तु के माध्यम से संगतियों का वर्णन-यशोगान तथा विसंगतियों का विरोध-प्रतिकार करेगा। क्योंकि दर्पण और प्रतिबिम्ब के संबंधों पर आधारित साहित्य एवं समाज का सम्यक निवर्हन करते हुए साहित्य अपनी विषयवस्तु के लिए अपने देशकाल और वातावरण के समाज पर आश्रित होता है तथा प्रत्येक समाज अनिवार्य रूप से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन क्षेत्रों में विभक्त होता है इसलिए स्वाभाविक है कि हम विषयवस्तु के चयन के लिए साहित्यकार की चेतना भी इन्हीं जीवन क्षेत्रों पर निर्भर करती हो। साहित्य में अभिव्यक्त होने वाली विभिन्न जीवन क्षेत्रो से संदर्भित चेतना को चेतना की साहित्यिक प्रकृति कहा जा सकता है। इस तरह से साहित्य-सर्जक यदि मानव-जीवन के सामाजिक पक्ष से अंतर्संबंधित संगतियों-विसंगतियों की अभिव्यक्ति को रचना का विषय बनाता है तो इसे उसकी साहित्यिक चेतना की सामाजिक प्रकृति कहा जाएगा। इसी तरह जीवन के आर्थिक क्षेत्र की समस्याओं, विशिष्टताओं आदि के वर्णन-विवेचन को चेतना की आर्थिक प्रकृति तथा राजनीतिक संगतियों-विसंगतियों के चित्रांकन की चेतना की राजनीतिक प्रकृति कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्यिक चेतना की धार्मिक प्रकृति में जहाँ सर्जक धर्म के अपने परिवेश के धार्मिक परिक्षेत्र में प्रकीर्णित परिस्थितियों, प्रवृत्तियों को लेखन का आधार बनाता है वही सांस्कृतिक चेतना संस्कृति के विविध घटकों की अभिव्यक्ति से अंतर्संबंधित होती है।

अत: सारांशिक स्वरूप में कहा जा सकता है कि चेतना कुछ और नही बल्कि बुद्धि की प्रतीकात्मकता ही है। इसकी उच्चता-निम्नता को बौद्धिक वैचारिक और मानसिक विकास का मानदण्ड कहा जा सकता है। सामान्य मनुष्यों की समतुल्यता में साहित्य-सर्जक की चेतना सदैव उत्कृष्ट एवं लोककल्याणकारी प्रकृति की होती है। रचनाकार इसी चेतना के आधार अभिव्यक्ति की सामर्थ्य और कल्पना शक्ति प्राप्त करता है तथा इसी के आधार पर वह अपनी रचनाओं के लिए विषयवस्तु का चयन करता है। उसके द्वारा अपने देशकाल और वातावरण के जिस जीवन क्षेत्र से रचना के लिए विषय का चयन किया जाता है उसी जीवन क्षेत्र को चेतना की प्रकृति कहा जाता है। दरअसल किसी रचना का समस्त ताना-बाना चेतना रूपी धागे से ही चुना होता है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. नागार्जुन के कथा-साहित्य साहित्य में जनवादी चेतना, डॉ० रामकृष्ण दत्तात्रयवढने वान्या पब्लिकेशंस, कानपुर संस्करण-2012
2. राष्ट्रीय चेतना के आयाम, डॉक्टर रमेश चन्द्र शर्मा, साहित्य नीलय, कानपुर, संस्करण- 2019
3. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉक्टर अमरनाथ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2018
4. रचना के सरोकार, विश्वनाथ तिवारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 1966
5. साहित्यालोचन, डॉ. श्यामसुंदरदास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण- 2010
6. आज के सवाल और साहित्य, संपादक- मनोज पाण्डेय, विश्वभारती प्रकाशन नागपुर, संस्करण- 2015
7. साहित्य का इतिहास दर्शन, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संस्करण- 1960
8. दूसरी परम्परा की खोज, डॉ० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण- 1983